विज्ञान, विज्ञान-शिक्षा और समानता

दार्शनिक बहसों के हवाले से कुछ प्रश्न

लल्लन बघेल
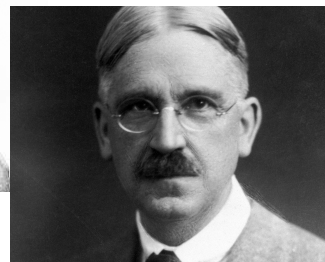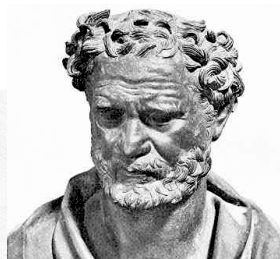
भारत में अंधविश्वास व रूढ़िवादिता के विरुद्ध संघर्ष में प्राय: विज्ञान से उम्मीदें लगाई जाती हैं। दूसरी ओर, कई बार विज्ञान के चारों तरफ़ एक ऐसा प्रभामण्डल स्थापित कर दिया जाता है कि उसकी किसी भी भूमिका पर प्रश्न उठाना तक कठिन हो जाता है। विज्ञान को इतिहास व सामाजिक संदर्भों से मुक्त एक अंतिम निश्चित ज्ञान की तरह भी प्रस्तुत किया जाता है। इन हालात में शिक्षा से संबंधित लोगों के लिए यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान और विज्ञान की शिक्षा का राजनीतिक व सामाजिक इतिहास से क्या संबंध है। इस बारे में अकादमिक और ग़ैर-अकादमिक बहसों में कई आयाम खुलते हैं।

यह लेख मुख्य रूप से तीन व्यापक प्रश्नों को उठाता है और उनके उत्तर ढूँढ़ने की दिशा में कुछ दूर तक आगे बढ़ता है। पहला प्रश्न यह है कि विज्ञान और समाज के बीच क्या रिश्ते हैं? दूसरा प्रश्न है कि क्या विज्ञान का ज्ञान सामाजिक परिवर्तन में कोई भूमिका निभाता है और कौन-सी? तीसरा प्रश्न है कि विज्ञान मुक्तिकामी है या फिर उससे नयी तरह की दासता का जन्म होता है? ये तीन प्रश्न कई दूसरे प्रश्नों को भी जन्म देते हैं। ये सभी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक का उत्तर पाने की चेष्टा में अकसर हम दूसरे प्रश्न तक पहुँच सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर कई बार हमें इतिहास व दर्शन के सघन विचार-विमर्शों के बीच भी ले जाएँगे। मगर हमारे पास उत्तरों की खोज में विज्ञान व विज्ञान के दर्शन के इतिहास की भूलभुलैया में भटकने के अलावा कोई चारा भी नहीं है। हममें से बहुत से लोग यह चाहते हैं कि विज्ञान शास्त्रीय बहसों और प्रयोगशालाओं तक सीमित न रहे, बल्कि हम विज्ञान एवं समाज में व्याप्त जटिलताओं का पुनर्पाठ कर सकें। हम विज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए उसे संविधान एवं समाज से और मुक्ति एवं समानता के सवालों से जोड़ सकें। इसके लिए हमें आधुनिकता के विमर्शों की चर्चा भी करनी होगी।

लेख की शुरुआत में हम यह देखने की कोशिश कर रहे हैं कि विज्ञान कैसे शिक्षा या शिक्षा से जुड़े हुए सवालों को व्यापक रूप से देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यहाँ हम प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूई (1938-1997) की रचना *अनुभव और शिक्षा* में व्यक्त उन विचारों से शुरुआत करते हैं। ड्यूई कहते हैं कि 'विज्ञान निश्चित रूप से समाज के राजनीतिक एवं सामाजिक ताने-बाने को लोकतांत्रिक बनाता है।' ड्यूई इस सवाल का सकारात्मक जवाब देते हैं कि क्या प्राकृतिक विज्ञान की व्यापक समझ किसी भी समाज को बेहतर बनाने या नयी नैतिक व्यवस्था बनाने में मदद करती है। क्या इसी को हम इस तरह पूछ सकते हैं कि विज्ञान व प्राकृतिक विज्ञान की ज्ञानमीमांसा समाज को आगे ले जाने में सहायक बनती है या नहीं?

विज्ञान के लोकतांत्रिक दावे की पड़ताल करने के लिए हम दर्शन व विज्ञान के इतिहास के तीन तहख़ानों में दाख़िल होंगे। सबसे पहले अरस्तू व डेमॉक्रिटस, फिर बेकन व देकार्त और साथ ही न्यूटन व कांट और अंत में एडोर्नो व हैबरमास जैसे हाल ही के आधुनिक विचारकों की बात की जाएगी।

विज्ञान के प्रति नज़रिया व यूनानी चिंतन

यूनानी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक डेमॉक्रिटस संसार व प्रकृति के रहस्यों को पदार्थवाद के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। इसका संदर्भ उनके लेखों से संगृहीत पुस्तक *डेमॉक्रिटस : साइंस, द आर्ट्स ऐंड द केयर ऑफ़ द सोल* में देखने को मिलता है। डेमॉक्रिटस बताते हैं कि किसी भी ज्ञान को, वह चाहे प्रकृति का हो या समाज का, पदार्थवाद एवं अनुभव से ही समझा जा सकता है और समाज की संरचना एवं विकास वैज्ञानिक पदार्थवाद के माध्यम से ही निर्मित होती है।

डेमॉक्रिटस के इस वाक्य की सत्यता की जाँच करने के लिए अरस्तू इसे कार्य कारण के सिद्धांत के माध्यम से अपने दर्शन में स्पष्ट करते हैं। अरस्तू इस बात को आगे बढ़ाते हुए बताते हैं कि प्रकृति-विज्ञान का ज्ञान एक व्यापक एवं तार्किक विश्व-दृष्टि प्रदान करता है, जिससे समाज को समझा जा सकता है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक *मेटाफ़िज़िक्स* में ओर्गेनॉन के माध्यम से यह बात की है। कुछ समसामयिक विद्वान अरस्तू की इस व्याख्या को एक तरह का पाण्डित्यवाद या स्कॉलेस्टिसिज़्म कहते हैं क्योंकि यह ग़ैर-समावेशी ज्ञान का निष्पादन करता है। अत: हम क्या अरस्तू और डेमॉक्रिटस को बेहतर सामाजिक व्यवस्था सम्भव करने वाली मुक्ति का प्रणेता माने या पाण्डित्यवाद से ग्रस्त? अरस्तू प्रकृति-विज्ञान और मानविकी के अंतर्संबंधों को मूलत: ज्ञानात्मक उद्देश्यों के मार्फ़त समझने पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार विज्ञान मूलत: मुक्ति का वाहक है। इस बात में किस हद तक सत्यांश है, इस पर दार्शनिकों और समाज वैज्ञानिकों में मतभेद है।

देकार्त एवं फ्रांसिस बेकन की ज्ञानात्मक एवं सामाजिक चेतना : कुछ सवाल

अब हम आधुनिक काल के फ्रांसिस बेकन एवं रेने देकार्त जैसे वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों की ज्ञानात्मक, सामाजिक तथा नैतिक प्रबोधन दृष्टि को समझने की कोशिश करेंगे। दोनों दार्शनिकों की मूल दृष्टियों में अंतर है। फिर भी दोनों ने समाज और विज्ञान के अंतर्संबंधों की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते हुए विज्ञान को समाज का परिवर्तनकारी अग्रदूत बताया है। साथ ही दोनों दार्शनिक समाज एवं विज्ञान के आपसी रिश्तों को अधिक संश्लेषणात्मक बनाते हैं।

बेकन व देकार्त और परवर्ती विचारकों की दृष्टि की चर्चा विज्ञान व विज्ञान-शिक्षा के संदर्भ में करना बेहद ज़रूरी है। कुछ समसामयिक शिक्षाविदों की तरह ही मैं भी मानता हूँ कि आज की विज्ञान-शिक्षा के पठन-पाठन की जटिलताओं की जड़ें आधुनिकता व उससे उपजे पश्चिमी वर्चस्ववादी महावृत्तांत में अंतर्निहित हैं। इसलिए सामाजिक ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से इस महावृत्तांत के पुनर्पाठ या नये तरीक़े से व्याख्या की ज़रूरत है ।

दोनों विचारकों को एवं उनकी दार्शनिक विश्व-दृष्टियों को समाज एवं शिक्षा के संदर्भ में आधुनिकता एवं प्रबोधन के अग्रदूत के रूप में देखा गया है। देकार्त की ज्ञानमीमांसीय विवेचना में चेतना, समाज और ज्ञान के बीच में अंतर्संबंध है और यह संबंध वैचारिक प्रणाली से समझा जा सकता है। हम विशेष रूप से पुस्तक *डिस्कोर्स ऑन मेथड* में व्यक्त देकार्त के विचारों पर बात करेंगे। इस पुस्तक में देकार्त ने ज्ञान को द्वैतवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वहीं ज्ञान, समाज एवं प्रकृति के बारे में ज्ञान को लेकर निश्चितता की बात की है, जो गणित एवं भौतिकी द्वारा परिलक्षित होती है। इन विषयों के ज्ञान के माध्यम से समाज और समाज में व्यापक कोटियों की व्याख्या की जा सकती है।

मौजूदा परिचर्चा के संदर्भ में यह कहना ज़रूरी है कि ज्ञान, प्रकृति एवं समाज एक-दूसरे के पूरक हैं और विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान को हमेशा तार्किक बुद्धिवाद से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। कई समकालीन समाज वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों ने इसकी आलोचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है और प्रत्यक्षवाद या पाजिटिविज़म के अग्रदूत माने जाने वाले देकार्त की दार्शनिक विज्ञान-पद्धति को एक तरह के पाण्डित्यवाद के रूप में देखा है।

वहीं दूसरी तरफ़, फ्रांसिस बेकन एक अन्य तरह के आनुभविक वैज्ञानिक दर्शन को आगे बढ़ाते हुए नज़र आते हैं। बेकन अपनी पुस्तक *द न्यू आर्गेनोन* में कहते हैं कि ज्ञान को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। एक मधुमक्खी की दृष्टि है और दूसरी मकड़ी की दृष्टि है। जहाँ मकड़ी की दृष्टि केवल एक तरह के विचारों का जाल बुनती है और विचारों के माध्यम से समाज की एवं सामाजिक संस्थाओं की (रचनाओं की) व्याख्या करती है, वहीं मधुमक्खी अनुभव के आधार पर ज्ञान का निर्माण करते हुए, समाज की एवं समाज में शक्ति संरचना की व्याख्या करती है। हम कह सकते हैं कि बेकन विज्ञान, विज्ञान-शिक्षा एवं समाज की एक नयी ज्ञानमीमांसा प्रदान करते हैं। बहुत से उत्तर संरचनावादियों ने बेकन की इस ज्ञानमीमांसा को अपने शोध का विषय बनाया है। ज्ञान एवं शक्ति के बीच क्या अंतर्संबंध हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए बहुत से विचारक अनुभवजनित ज्ञान को सार्वभौम तो मानते हैं मगर वे किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता या निरपेक्षवाद का दावा नहीं करते।

बेकन की विज्ञान की दार्शनिक व्याख्याओं में से कुछ बातें इस परिचर्चा के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं। वे मानते हैं कि विज्ञान व समाज के बारे में ज्ञान शास्त्रीय होने की बजाय अनुभवजनित जटिलताओं को स्पष्ट करने वाला एवं प्रबोधन के विचारों को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। यहाँ सुझाया जा चुका है कि वैज्ञानिक चेतना एवं व्यवहार को ऐसा होना चाहिए कि वह समाज को विकासोन्मुख बनाए, साथ ही जटिलताओं को स्पष्ट करने में सहायक हो, ताकि विज्ञान पढ़ने वाला विद्यार्थी या शिक्षक दोनों के बीच के अंतर्संबंध को समझते हुए इसे समाज से जोड़े।

इस लेख के संबंध में एक सवाल उठाया गया है कि इतिहास का दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान के दर्शनशास्त्र का इतिहास कैसे एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है और इनका जुड़ाव अध्यापक एवं छात्र के बीच कैसे एक बेहतर संवाद बनाने में सहायक होता है। इस प्रश्न का अपरोक्ष जवाब इस तरह सोचा जा सकता है कि विज्ञान किस प्रकार नये तरीक़े का ज्ञान है जो केवल ज्ञानमीमांसा का सृजन नहीं करता, बल्कि प्रकृति के रहस्यों का अवलोकन करते हुए हमारे सामने एक व्यापक दृष्टिकोण रखता है जिसके माध्यम से हम न केवल प्रकृति के नियमों को समझते हैं बल्कि यह भी समझ पाते हैं कि सामाजिक ताने-बाने में किस प्रकार की ग़ैर-तार्किक प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। उदाहरण के रूप में गणेशजी दूध नहीं पीते, बल्कि उसके कुछ वैज्ञानिक अन्य कारण हैं। यहीं इस सवाल की चर्चा भी की जा सकती है कि दर्शन के ज्ञानमीमांसा संबंधी विचारों का विज्ञान की कक्षा के साथ क्या संबंध है और कोई शिक्षक अपनी कक्षा में पढ़ाते हुए इन विचारों को कैसे रोचक तरीक़े से जोड़ सकता है और विद्यार्थियों में सवाल खड़ा करने का जज़्बा पैदा कर सकता है?

इसी चर्चा के फ़लक को आगे बढ़ाते हुए न्यूटन एवं इमेनुयल कांट के विचारों की एक झलक ली जा सकती है। दोनों के विचारों में एक तरह की समानता भी है। एक तरफ़ न्यूटन प्रकृति के नियमों को व्याख्यायित करते हुए विज्ञान को सार्वभौम, तार्किक एवं ज्ञानात्मक बनाते हैं, और वहीं कांट विचारों और नीति के सिद्धांतों के माध्यम से समाज एवं सामाजिकता की सार्वभौमिकता की व्याख्या करते हैं। यहीं पर यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या विज्ञान मुक्तिदायक ही है। यह भी कि क्या वैज्ञानिक तार्किकता और सामाजिक तार्किकता अलग-अलग है, तथा दोनों के बीच में किस तरह का संबंध है। यदि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, तो युरोकेंद्रीयता और ज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम के वर्चस्ववाद के सिद्धांत को कैसे समझें। इन प्रश्नों पर हम लेख के अगले भाग में चर्चा करने की कोशिश करेंगे।

वैज्ञानिक शिक्षा का संदर्भ : नव-मार्क्सवाद और मुक्ति के सवाल

आइए, अब हम विज्ञान के मुक्तिवाहक होने के दावे का आधुनिक विचारों के आलोक में एक परीक्षण करें। विज्ञान-शिक्षण एक ऐसी तार्किक शक्ति का निर्माण करता है जिसके माध्यम से न केवल प्रकृति के नियमों को समझा जाता है बल्कि सामाजिक ताने-बाने में मौजूद तरह-तरह की ग़ैर-तार्किकताओं की तरफ़ भी हमारा ध्यान खींचा जाता है। इस प्रकार हमारे सामने विज्ञान के मूल रूप से मुक्तिवाहक होने की तस्वीर उभरती है। मगर वहीं यह भी सच है कि जैसे ही विज्ञान तकनीकी के माध्यम से पूँजीवाद के संरक्षण में पलता एवं बढ़ता है, वह ग़ैर-बराबरी के समाज का निर्माण करता है, जिसे हम तकनीकी एवं उपकरणात्मक तार्किकता या इंस्ट्रूमेंटल रैशनलिटी के माध्यम से समझ सकते हैं।

इसलिए हम कह सकते हैं कि विज्ञान, तकनीकी विज्ञान एवं समाज-विज्ञान के बीच में एक द्वंद्वात्मक संबंध है। एक तरफ़ विज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान मुक्ति का वाहक जान पड़ता है, वहीं यह पूँजीवादी तार्किकता से भी जुड़ जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि विज्ञान का आधुनिकता तथा प्रबोधन के मूल्यों के साथ द्वंद्वात्मक रिश्ता है। इन रिश्तों के माध्यम से ही विज्ञान एवं विज्ञान-शिक्षा को समझा जाना चाहिए। इस बात का विस्तार से विवरण हमें क्रिटिकल थियरी या नव-मार्क्सवाद के प्रमुख चिंतकों में से एक हर्बर्ट मारकूज़े की पुस्तक *वन डाइमेंशनल मेन* में देखने को मिलती है। इन सवालों की जाँच के लिए क्रिटिकल थियरी के दूसरे विचारक एडोर्नो की पुस्तक *एस्थेटाइज़ेशन ऑफ़ पॉलिटिकल* का पुनर्पाठ भी किया जा सकता है। यह पुस्तक भी सवाल खड़ा करती है कि क्या विज्ञान मूलतः प्रतिक्रियावादी है और इसीलिए यह उपकरणात्मक तार्किकता एवं तकनीकी के माध्यम एक साम्राज्यवादी व्यवस्था का गठन करता है।

इन प्रश्नों की जाँच के लिए हम हैबरमास की कृति *ट्रांसफ़ॉरमेशन ऑफ़ पब्लिक स्फ़ेयर* के हवाले से आधुनिकता एवं विज्ञान के रिश्तों को लोकतंत्र एवं पूँजीवाद की अभिव्यंजना के माध्यम से भी देख सकते हैं। आधुनिकता समावेशी होने का दावा करती है, मगर पूँजीवाद और विज्ञान के गठजोड़ की विवशता के चलते अंततः ग़ैर-समावेशी साबित होती है। यह पुस्तक बताती है कि वंचित समुदाय के लोग हाशिये में रहते हैं और पूँजीवादी सार्वजनिक दायरा शक्ति-संबंधों के अनुरूप सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक विमर्शों को गढ़ता है।

ये आधुनिक विमर्श विज्ञान को एक तरह से उपकरणात्मक तार्किकता के रूप में बरतते हैं। हैबरमास की यह पुस्तक विज्ञान की तार्किकता को ऐतिहासिक संदर्भ में रखती है। वह बताती है कि विज्ञान एवं विज्ञानजनित तार्किकता कैसे तीन सौ साल के युरोपीय इतिहास में एक तरफ़ लोकतंत्र का गठन करते हुए प्रतीत होती है, दूसरी तरफ़ यही वैज्ञानिक तार्किकता पूँजीवाद एवं पूँजीवाद की संरचनात्मक सोच का वाहक बन जाती है। इस तार्किकता की द्वंद्वात्मक व्याख्या की जाए तो पता चलता है कि कैसे पश्चिम के सार्वजनिक जीवन में समाज में रहने वाले वंचित समुदाय के लोग दरअसल आधुनिकतावादी लोकतंत्र के दायरे से भी बाहर रह जाते हैं।

आधुनिकता समावेशी होने का दावा करती है, मगर पूँजीवाद और विज्ञान के गठजोड़ की विवशता के चलते अंततः ग़ैर-समावेशी साबित होती है। ... वंचित समुदाय के लोग हाशिये पर रहते हैं और पूँजीवादी सार्वजनिक दायरा शक्ति-संबंधों के अनुरूप सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक विमर्शों को गढ़ता है। ये आधुनिक विमर्श विज्ञान को एक तरह से उपकरणात्मक तार्किकता के रूप में बरतते हैं। विज्ञान और पश्चिम में जन्मा विज्ञान एक तरह के वर्चस्ववाद की रचना करता है। यह वर्चस्व मुक्ति का वाहक होने की जगह, एक अलग तरह की उपकरणात्मक तार्किकता को जन्म देता है, और वह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का वाहक है। इसके लिए यह लोकतंत्र की व्यूह रचना के माध्यम से अपनी कार्यविधि को आगे बढ़ाता है। यहाँ पर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि विज्ञान के इतिहास की जाँच क्या पश्चिमी या पूर्वी सभ्यताओं के बरअक्स की जा सकती है, विशेष रूप से जब हम यूनानी दर्शन व यूनानी वैज्ञानिकों द्वारा विकसित वैज्ञानिक अवधारणाओं की चर्चा करते हैं?

क्या यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि वैज्ञानिक तार्किकता और उपकरणात्मक तार्किकता को अलग-अलग किया जा सकता है? क्या यह तार्किकता वंचितों के समाजशास्त्र को भी प्राप्त होती है? क्या हम कह सकते हैं कि वह विज्ञान की प्रकृति ही है, जो तकनीकी ज्ञान के माध्यम से पूँजीवाद का निर्माण करती है? क्या विज्ञान को पूँजीवाद से पूरी तरह अलगाया जा सकता है?

ऐसे ही कुछ प्रश्न उठाए जाते रहे हैं कि आज के समय में विज्ञान में हो रहे शोध किस हद तक पूँजीवादी विचारधारा के द्वारा तय किये जाते हैं और क्या इससे विज्ञान की मूल प्रकृति में परिवर्तन होता है या विज्ञान मूलतः एक तरह का ज्ञानात्मक प्रबोधन है। मगर यह मान्यता भी हमारे सामने है कि तकनीकीजनित विज्ञान निश्चित रूप से पूँजीवादी संरचनात्मक व्यवस्था से बाहर नहीं है। अतः दोनों को हमें अलग-अलग तरीक़े से समझना चाहिए।

लेख के इस भाग में हमने अपने अध्ययन के उपरांत पाया कि विज्ञान और पश्चिम में जन्मा विज्ञान नितांत रूप से एक तरह के वर्चस्ववाद की रचना करता है। यह वर्चस्व मुक्तिवाहक होने की जगह, एक अलग तरह की उपकरणात्मक तार्किकता को जन्म देता है, और वह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का वाहक है। इसके लिए यह लोकतंत्र की व्यूह रचना के माध्यम से अपनी कार्यविधि को आगे बढ़ाता है। यहाँ पर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि विज्ञान के इतिहास की जाँच क्या पश्चिमी या पूर्वी सभ्यताओं के बरअक्स की जा सकती है, विशेष रूप से जब हम यूनानी दर्शन व यूनानी वैज्ञानिकों द्वारा विकसित वैज्ञानिक अवधारणाओं की चर्चा करते हैं? औपनिवेशिक काल में विज्ञान की भूमिका को समझे जाने का प्रश्न भी खड़ा होता है। विज्ञान की औपनिवेशिक भूमिका के परिणामों के बारे में व्यापक चर्चा विज्ञान के उन दर्शनशास्त्रियों और इतिहासकारों ने की है जो सामाजिक ज्ञानमीमांसा की बात करते हैं।

भारत में पिछले दो सौ सालों से औपनिवेशिक व उत्तर औपनिवेशिक समय में विज्ञान एक तरह का उत्पादन-क्षेत्र बन गया और विज्ञान, ज्ञानमीमांसा एवं उत्पादन-प्रक्रिया एक-दूसरे के परिवाहक बन गये। इन सवालों पर ध्रुव रैना एवं अन्य विज्ञान के इतिहासकारों व दार्शनिकों ने बात की है। पर इन सवालों के बारे में शिक्षाशास्त्रियों में मत-भिन्नता है। इस व्यापक प्रश्न को हम यहीं पर छोड़ रहे हैं, क्योंकि यह इस लेख का मूलभूत मक़सद फ़िलहाल नहीं है।

निष्कर्ष

डेमॉक्रिटस, अरस्तू एवं देकार्त के चिंतन की परम्परा को एक तरह के प्राथमिक विमर्श के रूप में देखा जा सकता है। यह विमर्श तार्किक प्रत्यक्षवाद या लॉजिकल पॉजिटिविज़म के रूप में एक तरह की व्यवहारवादी, ग़ैर-लोकतांत्रिक व वर्चस्ववादी व्यवस्था में तब्दील होता है। यहाँ पर विज्ञान अपनी मूल प्रवृत्ति से भटकते हुए एक तरह की साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था में तब्दील होता है

वहीं दूसरी तरफ़ यदि फ्रांसिस बेकन, लॉक एवं ह्यूम के विमर्श को आगे बढ़ाएँ तो हम पाते हैं कि ये एक तरह की वैज्ञानिक तार्किकता को आगे बढ़ाते हुए भी एक तरह के संशयवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हैं। यही संशयात्मकता आगे चलकर भारत जैसे औपनिवेशिक संदर्भ में जन विज्ञान आंदोलन को जन्म देती है। यह आंदोलन प्रत्यक्षवाद की विरासत और पूँजीवादी लोकतंत्र का विरोध करते हुए संस्कृति और विज्ञान के आपसी रिश्तों को परिभाषित करती हुई प्रतीत होती हैं।

जैसा कि हमने शुरू में कहा था यह लेख इस चर्चा के संदर्भ में कुछ प्रश्नों को उठाता है। इन प्रश्नों के कई आयाम हैं, जिन्हें यहाँ पूरी तरह से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। फिर भी इस चर्चा से भविष्य के अध्ययन के लिए कुछ राहें निकलती हैं, जिसके ज़रिये हम विज्ञान एवं मुक्ति के द्वंद्वात्मक संबंधों को समझने की शुरुआत कर सकते हैं।

ऐसा ही एक सवाल यह रहा है कि क्या विज्ञान कभी भी मूल्य-निरपेक्ष रहा है या विज्ञान का मूल्य-निरपेक्ष होना एक तरह का भ्रम है। आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा का एक बड़ा दावा है कि उसके विचारों को कहीं भी निरपेक्ष व सार्वभौमिक तरीक़े से प्राप्त किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, वैज्ञानिक तार्किकता के मूल्य निरपेक्ष होने का दावा किया जाता है? इसी दावे की ओट से यह बात भी निकलती है कि यदि विज्ञान मूल्य-निरपेक्ष है तो आधुनिकता भी मूल्य-निरपेक्ष है। विज्ञान को मूल्य-निरपेक्ष मान लेने से आधुनिकता एवं वैज्ञानिक तार्किकता की समझ एक तरह के व्यवहारवाद को भी जन्म देती है। जबकि हमने देखा है कि विज्ञान के मूल्य निरपेक्ष होने का दावा पूँजीवाद की व्याख्या के बाद संदेहास्पद हो जाता है। यह भी एक व्यापक विमर्श का सवाल है, जिसका यथोचित उत्तर देना इस लेख के सीमित दायरे से बाहर है।

जैसा कि हम लेख के पिछले हिस्से में विज्ञान, साम्राज्यवाद और मुक्ति के सवालों के संबंध में नव मार्क्सवाद के प्रमुख चिंतकों हरबर्ट मारक्यूज़ और एडोर्नो की बात कर चुके हैं। इन विचारकों ने बताया कि विज्ञान को वर्चस्वकारी पूँजीवादी व साम्राज्यवादी व्यवस्था ने कैसे उपकरणात्मक तार्किकता में बदल दिया है। यह तार्किकता पूँजीवाद की शक्ति संरचनाओं व राजनीतिक व्यूह रचना

इन चिंतकों ने शिक्षा और शिक्षाजनित मूल्यों के निर्माण को दो हिस्सों में विभाजित किया है। पहला हिस्सा अरस्तू से प्रारम्भ होकर कांट और न्यूटन में अभिव्यक्त होते हुए एक तरह के विज्ञानवाद एवं लोकतांत्रिक पूँजीवाद में तब्दील होता है और ऐसा करते हुए मूल्य निरपेक्षता के वितण्डे का निर्माण करता है। वहीं दूसरा हिस्सा आत्म-प्रश्नेयता या रिफ़्लेक्सिविटी के ज़रिये खुद पर सवाल उठा कर समाज व व्यक्ति के द्वंद्वात्मक संबंधों को आगे बढ़ाते हुए उपकरणात्मक तार्किकता एवं मूल्य-निरपेक्षता की आलोचना प्रस्तुत करता है। ... वैज्ञानिक शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा की कार्यपद्धति जब विज्ञानवाद का शिकार हो जाती है तो वह समाज से अलग-थलग होते हुए एक तरह से शास्त्रीय पाण्डित्यवाद का गठन करती है, और इसी वजह से विज्ञान-शिक्षा समाज से अलग-थलग दिखाई पड़ती है।

के माध्यम से विज्ञान की मुक्तिकामी सम्भावना को धूमिल करती हुई प्रतीत होती है।

साथ ही इन चिंतकों ने शिक्षा और शिक्षाजनित मूल्यों के निर्माण को दो हिस्सों में विभाजित किया है। पहला हिस्सा अरस्तू से प्रारम्भ होकर कांट और न्यूटन में अभिव्यक्त होते हुए एक तरह के विज्ञानवाद एवं लोकतांत्रिक पूँजीवाद में तब्दील होता है और ऐसा करते हुए मूल्य निरपेक्षता के वितण्डे का निर्माण करता है। वहीं दूसरा हिस्सा आत्म-प्रश्नेयता या रिफ़्लेक्सिविटी के ज़रिये खुद पर सवाल उठाते हुए समाज व व्यक्ति के द्वंद्वात्मक संबंधों को आगे बढ़ाते हुए उपकरणात्मक तार्किकता एवं मूल्य-निरपेक्षता की आलोचना प्रस्तुत करता है। यह विज्ञान को विज्ञानवाद एवं यांत्रिक विज्ञानवाद से अलग करते हुए संदेह का लाभ भी देता है।

अत: हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा की कार्यपद्धति जब विज्ञानवाद का शिकार हो जाती है तो वह समाज से अलग-थलग होते हुए एक तरह से शास्त्रीय पाण्डित्यवाद का गठन करती है, और इसी वजह से विज्ञान-शिक्षा समाज से अलग-थलग दिखाई पड़ती है। इसी बात का प्रतिफलन एक शिक्षक की कक्षा में होता है, जहाँ छात्र विज्ञान से या तो जुड़ नहीं पाते या फिर उपकरणात्मक रूप से जुड़ते हुए विज्ञान के मुक्तिकामी दर्शन से अनजान बने रहते हैं।

अंत में यही कहा जा सकता है कि शिक्षा-दर्शन की एक भूमिका यह भी है कि वैज्ञानिक शिक्षा एवं मानविकी समाज में व्याप्त जटिलताओं को समझा जाए, ताकि विज्ञान किसी एक प्रयोगशाला या प्रयोगशालाओं में सीमित जीवन या विज्ञानकर्मियों तक सीमित न रह जाए बल्कि व्यापक रूप से समाज की ढाँचागत समस्याओं व विषमताओं को समझने के लिए उपलब्ध रहे। इसीलिए इस लेख में हमने विज्ञान और आधुनिकता की ऐतिहासिक एवं सामाजिक बहसों की तरफ़ जाने का प्रयास किया है। यह प्रयास भारतीय संदर्भों में मुख्यत: ध्रुव रैना की पुस्तक *इमेजेस ऐंड कांटेक्स्ट : हिस्टीरिओग्राफ़ी ऑफ़ साइंस* को महत्त्वपूर्ण मानता है।

ध्रुव रैना द्वारा प्रस्तावित सामाजिक ज्ञानमीमांसा एक तरफ़ यांत्रिक विज्ञानवाद की आलोचना करती है, पर इसके साथ एक दिक़्क़त भी है। यह पुस्तक विज्ञान एवं विज्ञानजनित मुक्ति के फ़लक को सापेक्षतावाद के सिद्धांत की तरफ़ भी धकेलती है। यह एक तरह का उत्तर-संरचनावादी दृष्टिकोण है, जिसमें सवाल तो हैं पर जवाबों की तरफ़ महज़ इशारे हैं। इस पुस्तक की मान्यताओं व निष्कर्षों की आलोचना स्टीव फुलर और भारतीय विद्वान मीरा नंदा के चिंतन के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

अंत में विज्ञान एवं वैज्ञानिक शिक्षा तथा आधुनिकता के द्वंद्वात्मक विमर्श को समझते हुए हमें यह पता करना होगा कि विज्ञान की शिक्षा कैसे समानता एवं न्याय पर आधारित लोकतंत्र को विकसित कर सकती है। कक्षा का जीवन भी इस लोकतंत्र का हिस्सा हो सकता है, ताकि विज्ञान की शिक्षा समाज के बड़े परिदृश्य से जुड़ सके और भारतीय संविधान की मूल संरचना का वाहक बन सके। इसलिए विज्ञानकर्मियों के सामाजिक सरोकारों को पुन:व्याख्यायित करने की ज़रूरत है।

संदर्भ

अरिस्टोटल (2012), द *ओर्गेनॉन,* क्रियेट स्पेस इंडिपेंडेंट पब्लिशिंग प्लेटफ़ॉर्म.

ध्रुव रैना (2004), *इमेजिज़ ऐंड कॉन्टेक्स्ट : द हिस्टीरियोग्राफ़ी ऑफ़ साइंस ऐंड मॉडर्निटी इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

युरगन हैबरमास (1991), द *स्ट्रक्चरल ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फ़ियर,* एमआईटी प्रेस, मेसाचुसेट्स.

राजेश्वरी एस. रैना (सं.)(2015), *साइंस, टेक्नॉलॅजी ऐंड डिवेलपमेंट इन इंडिया : एनकाउंटरिंग वेल्यूज़,* ऑरिएंट-ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

रेने देकार्त (1998), *डिस्कोर्स ऑन मेथड,* हैकेट पब्लिशिंग कम्पनी, इंडियानापोलिस, इंडियाना.

हर्बर्ट मारक्यूज़ (1991), *वन डायमेंशनल मेन : स्टडीज़ इन द आइडियोलॅजी ऑफ़ एडवांस्ड इंडस्ट्रियल सोसाइटी,* रौटलेज, लंदन.